ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218
PP. No.- 123-126

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-16, No.- II, Issues-28, YEAR- April-June-2023

माध्यमिक शून्यवाद की मूल मान्यताएँ

राहुल कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर– संस्कृत विभाग, श्री सुदृष्टि बाबा स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सुदिष्टपुरी–रानीगंज, बलिया (उ0प्र0), भारत

Received-26.04.2023, Revised-01.05.2023, Accepted-06.05.2023 E-mail: aaryvart2013@gmail.com

सारांशः ***वैदिक सनातन धर्म में व्याप्त कुरीतियों यथा– कर्मकाण्डीय जटिलता, हिंसा का अतिप्रचार, आध्यात्मिक अधिकार को वर्गविशेष तक सीमित रखने की उत्कट लालसा एवं तत्परता इत्यादि अवांछित आगतों के विरोधस्वरूप जिन धर्मों का उद्भव हुआ, उनमें जैन एवं बौद्ध सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे। दोनों धर्मों के संस्थापकों एवं प्रवक्ताओं ने इनका अत्यन्त मुखरता से विरोध किया तथा सभी मनुष्यों को आध्यात्मिक उन्नति का अवसर प्रदान करने का संकल्प लिया। साथ ही, सामान्य जन से आचार– विचार में शुचिता एवं सरलता पर अधिकाधिक बल देने का आग्रह किया। वस्तुतः प्रारम्भ में ये दोनों धर्म आचारमीमांसापरक ही थे। यद्यपि बौद्धदर्शन के मूलभूत अभ्युपगमों की आदिम अभिव्यक्ति बुद्ध के उपदेशों में अन्तर्निहित थी तथापि बुद्ध के स्वर दार्शनिक विवेचनों यथा तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा, जो किसी भी दर्शन के मंतव्यों को जानने–समझने की सामान्य पद्धति मानी जाती हैं, के संबंध में अत्यन्त मद्धम थे। उनका मुख्य बल इस दुःखात्मक जगत से मुक्ति पाने तथा उनकी प्राप्ति के मार्गों के विवेचन पर विशेष रूप से था। कालान्तर में अन्य दर्शनों के प्रभाव में तथा अन्यान्य कारणों से बौद्ध धर्म में दार्शनिक विवेचन सान्द्र होता गया। इस प्रकार एक दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में बौद्ध धर्म का रूपान्तरण एक पश्चात्वर्ती प्रवृत्ति थी। बौद्ध कुछ आधारभूत मान्यताओं में मतैक्य के उपरान्त भी अपने दार्शनिक दृष्टि में वैमत्य के कारण अनेक वादों एवं सम्प्रदायों में विभक्त हो गए तथा सभी सम्प्रदाय स्वयं को बुद्ध के मौलिक विचारों के सर्वाधिक सन्निकट होने का दावा करते रहे।***

कुंजीभूत शब्द– वैदिक सनातन धर्म, व्याप्त कुरीतियों, कर्मकाण्डीय जटिलता, हिंसा का अतिप्रचार, आध्यात्मिक अधिकार, दार्शनिक।

भारतीय दर्शन में प्रत्ययवाद– बाह्य जगत् के पृथक् एवं स्वतंत्र अस्तित्त्व को मान्यता न देकर उसे 'ज्ञातृसापेक्ष मानना ही 'प्रत्ययवाद' कहलाता है। भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में यदि 'प्रत्ययवाद' के मूलोद्गम की बात की जाए तो प्रत्ययवाद का प्रत्यक्षतः एवं उपचारतः पोषण करने वाली कई उक्तियाँ वेदों एवं उपनिषदों में उपलब्ध हैं। यथा– ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में ऋषि इसे एकेश्वरवाद के रूप में अभिव्यक्त करता है– 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' इसके अतिरिक्त, ऋग्वेद के दशम मण्डल के नासदीय सूक्त में भी ऋषि सृष्टिमीमांसा करता हुआ चेतन तत्त्व को ही सृष्टि का मूल कारण स्वीकार करते हुए कहता हैदृ 'कामस्तदग्रे समवर्ततााधि मनसो रेतः प्रथमं यदासी।' उपनिषदों में तो प्रत्ययवाद का समर्थन करते प्रतीत होने वाले अनेक कथन उपलब्ध हैं ।'[1] परन्तु ऐसे विचार वेदों तथा उपनिषदों के विषयवस्तु के अल्पांशमात्र है तथा वे भी सूत्र रूप में एवं अनियोजित रूप में उपलब्ध हैं। इस प्रकार के विचारों को मुख्य आधार बनाकर अपने दार्शनिक मंतव्यों का प्रसार करने तथा उसे एक वाद एवं विधा का रूप प्रदान करने का श्रेय बौद्धों को ही है। यथार्थतः भारतीय दार्शनिक विमर्श को विविध एवं समृद्ध करने में बौद्धों का अवदान अप्रतिम है। बौद्धदर्शन निजनूतन अभ्युपगमों के कारण प्रायः सभी परम्परागत दार्शनिक सम्प्रदायों के वैचारिक आघात का विषयवस्तु (लक्ष्य) बना। इन आघातों के प्रतिरोध में बौद्धों ने भी कुछ तर्क प्रस्तुत किए। खण्डन–मण्डन की इस श्रृंखला ने भारतीय दर्शन के चिन्तन–परास को तो विस्तृत किया ही, साथ ही तार्किक पक्ष को भी और प्रगाढ़ किया।

शून्यता का तात्पर्य– बौद्ध प्रत्ययवादी सम्प्रदाय योगाचार विज्ञानवाद एवं माध्यमिक शून्यवाद हैं। शून्यवाद के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन हैं। बुद्ध के 'मध्यमा प्रतिपत्' के सिद्धान्त में गहन आस्था तथा 'मध्यमशास्त्र' नामक ग्रन्थ में इस सिद्धांत के नवीन निर्वचन के कारण 'माध्यमिक' तथा 'शून्य' के विशिष्ट सिद्धान्त में विश्वास के कारण इस दार्शनिक नय के प्रवक्ताओं की सामूहिक संज्ञा 'माध्यमिक शून्यवादी' है। शून्यवाद बाह्य–आन्तरिक अर्थात् भूत–भौतिक तथा चित्त–चौत्त समस्त सत्ताओं को बुद्धि विकल्प, सापेक्ष तथा शून्य बताकर उनका प्रत्याख्यान करता है। इस मान्यता से सामान्यतः ऐसा ध्वनित होता है कि 'शून्यवाद' सर्वनिषेधवाद का प्रायोजक है। परंतु वस्तुतः यहाँ 'शून्य' उस लोकप्रथित अर्थ में शून्य नहीं है जिसका आशय रिक्तता अथवा सर्वनिषेध से हो। यद्यपि यह सत्य है कि शून्यवाद के अधिकांश प्रतिद्वद्वियों ने 'शून्य' को प्रायः इसी अर्थ में व्याख्यायित करने एवं प्रचारित करने का प्रयास किया है। इसका कारण प्रकृत सिद्धांत के सम्यक् अवबोध की अक्षमता अल्प है, दुर्भावनापूर्ण पूर्वाग्रह एवं खण्डन सौकर्य की दुर्नीति अधिक। उदाहरणस्वरूप– आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के तर्कपाद में ऐसी ही दृष्टि उपस्थित की है।'[2] वस्तुतः शून्यता से नागार्जुन का अभिप्राय 'स्वभावशून्यता' से है। 'स्वभाव', वह है जो अकृत्रिम एवं निरपेक्ष हो।'[3] स्वभाव वह होता है जिसमें निजता हो, परता नहींय जो आत्मीय हो, बाह्यागत नहींय जो आत्मनिःसृत हो, पर–आहृत नहीं। चूँकि भौतिक–आध्यात्मिक किसी भी वस्तु में उपर्युक्त अर्हता विद्यमान नहीं है अतः वे 'शून्य' हैं। परंतु यहाँ यह जिज्ञासा अत्यन्त प्रासङ्गिक है कि क्या नागार्जुन का वस्तुविषयक यह निष्कर्ष केवल सैद्धान्तिक मान्यताओं पर आधारित है अथवा उसकी कोई तार्किक आधार भूमि भी है ?

नागार्जुन वस्तुओं की निःस्वभावता को 'प्रतीत्यसमुत्पादवाद' के सिद्धांत से स्पष्ट करते हैं। यह बौद्धों का एक केंद्रीय सिद्धांत है। 'प्रतीत्यसमुत्पादवाद का आशय 'हेतु–प्रत्ययों' की अपेक्षा करके भावों का उत्पाद या प्रादुर्भाव है।'[4] नागार्जुन के अनुसार 'प्रतीत्यसमुत्पादवाद' कार्यकारणवाद का सिद्धांत नहीं है, जैसा कि बौद्ध के अन्य सम्प्रदायों ने इसे समझा है, बल्कि 'सापेक्षतावाद' है। वस्तुतः व्यावहारिक कार्यकारणता में भी सापेक्षता का ही निदर्शन होता है। सापेक्षता अनुक्रमतः परायह एवं परतन्त्रता का ही प्रतिरूप है तथा अंततः निःस्वभावता में ही इसका पर्यवसान होता है। पदार्थों की यह निःस्वभावता ही उनकी शून्यता है। इस प्रकार, सापेक्षता और निःस्वभावता

अनुरूपी लेखक/संयुक्त लेखक

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-16, No.- II, Issues-28, YEAR- April-June-2023

के द्वारा 'प्रतीत्यसमुत्पादवाद' एवं 'शून्यता' में तादात्म्यभाव सिद्ध होता है।'[5] प्रतीत्यसमुत्पाद को 'मध्यमा प्रतिपदा' भी कहा गया है। क्योंकि इसमें 'शाश्वतवाद' एवं 'उच्छेदवाद' इन दोनों आत्यन्तिक/ऐकान्तिक दृष्टिकोण का निराकरण हो जाता है।'[6] शून्यवाद न तो वस्तुओं को सर्वथा निरपेक्ष तथा आत्मनिर्भर मानता है और न ही वस्तुओं का पूर्णतः अभाव मानता है, प्रत्युत् यह वस्तुओं के पर–निर्भर अस्तित्व को मानता है।

नागार्जुन माध्यमिकशास्त्र के प्रथम प्रकरण 'प्रत्यय परीक्षा' में कार्यकारणवाद के समस्त सिद्धांतों को निरस्त कर 'अजातिवाद' की स्थापना करते हैं। शून्यताप्रस्थापक उनकी तर्क शैली 'चतुष्कोटिन्याय प्रणाली' कही जाती है। उनके अनुसार, वस्तुएं न तो स्वतः उत्पन्न हो सकती हैं, न परतः उत्पन्न, न उभयतोत्पन्न और न ही निर्हेतुक।'[7] वस्तुएं स्वयं से उत्पन्न नहीं हो सकतीं क्योंकि ऐसा मानने पर वह उत्पत्ति के पूर्व भी सत्य होगीं तथा आत्मना विद्यमान की उत्पत्ति मानने का कोई कारण नहीं है। भावों की परतः उत्पत्ति भी नहीं हो सकती क्योंकि यदि अन्य से उत्पत्ति मानी जाए तो सभी वस्तुओं से स्वभिन्न सभी पदार्थों की उत्पत्ति सम्भव होगी। यथा– अग्नि से अन्धकार की उत्पत्ति। स्वतः परतः समेकित रूप में भी भावों की उत्पत्ति करने में सक्षम नहीं हैं क्योंकि तब भिन्न– अभिन्न का सहभाव मानना पड़ेगा परंतु यह असङ्गत है क्योंकि जब भाव उत्पन्न ही नहीं होगा तब वह कैसे किसी वस्तु से अभिन्न हो सकता है? भावों को निर्हेतुक मानना तो नितान्त निर्मूल होगा। इस प्रकार, नागार्जुन के अनुसार भावों की उत्पत्ति किसी भी प्रकार उपपन्न नहीं है। यही 'अजातिवाद है। और तो और, नागार्जुन तथागत के अस्तित्व की भी परीक्षा कर उनका भी निषेध करते हैं। तब यह विचारणीय प्रश्न है कि यदि तथागत भी नहीं हैं तो उनके द्वारा दिए गए सारे उपदेश कैसे प्रवृत्त होंगे? इसके समाधान में चन्द्रकीर्ति एक दृष्टान्त उद्धृत करते हैं– जिस प्रकार यंत्रीकृत तूरी वायु के झोंकों से बजती है, उसका कोई वादक नहीं होता किंतु शब्द निकलते हैं, उसी प्रकार सत्त्वों की वासना से प्रेरित होकर बुद्ध की वाणी निःसृत होती है।'[8] यही तर्क 'विज्ञान' पर भी क्रियान्वित कर विज्ञान को भी निःस्वभाव मानकर हटा दिया जाता है। बुद्धि तथा बुद्धि की समस्त कोटियाँ तत्त्व का निर्धारण करने में सक्षम नहीं हैं अतः बुद्धि भी त्याज्य है।

प्रायः प्रतिपक्षियों द्वारा इस 'माध्यमिक द्वन्द्व–न्याय' के प्रति एक प्रश्नात्मक शैली में आक्षेप किया जाता है कि यदि समस्त वैचारिक दृष्टियाँ विरोधाभासी अतः अनुपपन्न हैं तो उनकी स्वयं की क्या दृष्टि है जो पूर्णतः सुसङ्गत हो ? इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः शून्यता दृष्टिविमुक्त एक ऐसी तार्किक प्रणाली है जो किसी विषयवस्तु का प्रतिपादन नहीं करती अपितु अन्य दृष्टियों में स्वीकृत मान्यताओं की सामग्री– परीक्षण कर उनमें व्याप्त व्याघातों को उजागर (अभिव्यक्त) कर उनका प्रत्याख्यान करती है। अन्तर्विरोध के उद्घाटन की यह पद्धति 'प्रासंगिक' कहलाती है। इस संदर्भ में प्रो. गोविंदचन्द्र पाण्डेय की उक्ति समीचीन ही प्रतीत होती है कि– ''वस्तुतः सब धर्म शून्य हैं। यह प्रमाणसाध्य प्रतिज्ञावाक्य नहीं बल्कि नाना प्रतिज्ञाओं की समीक्षा से उनके अन्तर्गत सांवृत धर्मों की शून्यता का ख्यापन या निर्देशमात्र है।'[9] ''नागार्जुन की निजोक्ति भी 'शून्यता' के दृष्टिराहित्य की पक्षपाती है।'[10] यथार्थ में शून्यता उस प्रहरी की भाँति है जिसका 'जागते रहो' के निरन्तर उद्घोष में कोई व्यक्तिगत हित नहीं सधता बल्कि केवल सचेतक की भूमिका में वह नागरिकों को अदत्तावधान होने तथा विस्मृत होने से संरक्षित करता है।

सत्ताद्वय की स्थापना– प्रायः शून्यवाद को अनवधार्य कहा जाता है क्योंकि यह व्यावहारिक जगत् की नितान्त उपेक्षा करता है। परंतु यह आरोप सम्यक् नहीं है। नागार्जुन की स्पष्ट उक्ति है कि बुद्ध की धर्मदेशना सत्ताद्वय–सांवृतिक सत्य एवं परमार्थ सत्य पर आधारित है।'[11] शून्यवाद में लोकव्यवहार की संज्ञा 'सांवृतिक सत्य है। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने 'संवृत्ति' का त्रिविध निवर्चन'[12] किया है तथा तीनों निर्वाचनों में यह भाव अनुस्यूत है कि लोकाधारित व्यवहार अपनी समस्त विविधताओं के साथ विद्यमान है। यह भिन्न बात है वे अनन्तिम हैं, चरम सत्य नहीं, और जबतक तत्वावबोध न हो जाए तब तक लोकव्यवहार का महत्त्व निर्विवादित है। कुमारिल भट्ट 'श्लोकवार्तिक' में सत्य–द्वय सिद्धांत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यदि संवृति का अन्ततः परित्याग ही करना है, तो उसपर विचार करने की आवश्यकता क्या है? परंतु जैसा कि पूर्वोक्त है– परमार्थ संवृति द्वारा आच्छादित है अतः संवृति के यथार्थनिर्धारण के बिना परमार्थ की अनुभूति हम नहीं कर सकते और परमार्थ के अवबोध के बिना निर्वाण का अधिगम अशक्य है।'[13]

नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन में परमार्थ का स्वरूप क्या है, इस विषय में विद्वानों के मध्य पर्याप्त मतभेद हैं। प्रो. गोविंदचंद्र पाण्डेय, टी. आर. वी. मूर्ति प्रभृति विद्वानों का मत है कि निःस्वभावता सत्ता के दो रूपों में से केवल सांवृतिक रूप तक ही मान्य है जबकि परमार्थ इससे भिन्न किसी अन्य सकारात्मक सत्ता की ओर संकेत करती है।'[14] इसके विपरीत, प्रो० यशदेव शल्य के अनुसार, अवश्य सात्त (भाव) विषयक नागार्जुन की अवधारणा उपर्युक्त प्रकार की है, किन्तु वे इस अवधारणा के अनुरूप किसी वस्तु को स्वीकार नहीं करते।'[15] माध्यमिक कारिका में कुछ ऐसे संकेत अवश्य हैं जिनसे परमार्थ की भावात्मकता निर्देशित होती है।'[16] सम्भवतः नागार्जुन को परमार्थ का भावरूप में प्रतिपादन अभिप्रेत था परंतु उसका स्फुटता से उच्चरित न होना वर्णन की अशक्यता हो।'[17] यद्यपि अंत तक यह जिज्ञासा बनी रहती है कि 'शून्यवाद' में परमार्थ का कोई सकारात्मक स्वरूप है अथवा नहीं।

अनात्मवाद– बौद्धों के आत्माविषयक धारणा को ''संघातवाद एवं क्षणिकवाद' इस सिद्धांतयुगल के सम्यक् अवबोध से सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है। 'संघातवाद एक सम्प्रत्यय है जो यह बतलाता है कि वस्तु अपने अवयवों का संयोजन मात्र है, उनके विन्यास से जन्य कोई भिन्न अस्तित्ववान् नहीं। सरल शब्दों में, अवयवों से भिन्न अवयवी की कोई सत्ता नहीं होती। इस संदर्भ में रथ का रूपक अत्यन्त प्रचलित है। 'नैरात्म्यवाद' को समझने के दृष्टिकोण से 'संघातवाद' में अन्तर्भावित तर्क का व्यतिरेकि प्रतिरूप कहा जा सकता है अर्थात् जिसे परम्परागत मान्यता में नित्य, कूटस्थ आत्मा कहा जाता है वह रूप, विज्ञानादि पञ्चस्कन्धों के व्यतिरिक्त इनमें निहित कोई शाश्वत सत्ता नहीं है। 'क्षणिकवाद' के अनुसार प्रत्येक सत्ता क्षणिक है। सत्ता की अर्थवत्ता तभी सिद्ध होती है, जब वह कार्योत्पादनसामर्थ्यवान हो तथा यह बौद्धों के अनुसार क्षणिकवाद के साथ ही सङ्गत है। अतः पञ्चस्कन्धरूप आत्मा को भी निरंतर

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-16, No.- II, Issues-28, YEAR- April-June-2023

परिवर्तनशील मानना तर्कानुकूल है।

नागार्जुन के अनुसार, आत्मा स्कन्ध एवं स्कन्धभिन्न उभय रूपों में असिद्ध है। उनका तर्क है कि यदि स्कन्ध ही आत्मा है, तो उसका उत्पाद एवं विनाश मानना होगा, इससे आत्मा में अनेकता की प्रसक्ति होगी। यदि आत्मा को स्कन्धातिरिक्त नित्य, निर्गुण आदि विविध रूप से युक्त माना जाए, तो आत्मा के स्वरूप में वादियों का मतवैभिन्य यह इंगित करता है कि वे आत्मा की स्वरूपतः प्रज्ञप्ति कर लक्षण नहीं करते केवल उनका मत मिथ्यानुमान पर टिका हुआ है। अतः असिद्ध है। शून्यवाद के अनुसार, आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं होती बल्कि वे आत्मदृष्टि को तो निर्वाणप्राप्ति में बाधक मानते हैं। संसार का मूल 'सत्काय दृष्टि' है। सत्काय दृष्टि ही अशेष क्लेशों का मूलोद्गम है तथा इसका आलम्बन 'आत्मा' है। आत्मा–आत्मीय की अनुपलब्धि से ही सत्कायदृष्टि प्रहीण होती है, फिर 'अहं' 'मम' के अभिनिवेश से सत्कायदृष्टिमूलक क्लेशगण भी उत्पन्न नहीं होंगे और उससे प्रेरित कर्म भी नहीं होंगे। कर्म के अभाव से जाति–जरा–मरण–युक्त संसार का अभाव होगा। चन्द्रकीर्ति इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वस्तुओं की उपलब्धि होने पर ही समस्त प्रपंच–जाल खड़ा होता है, क्योंकि रागी पुरुष वन्ध्या–दुहिता के प्रति उसके रूप लावण्य– यौवन से आकृष्ट होकर कैसे राग–प्रपंच का अवतारण नहीं करता। यदि राग न हो तो तद्विषयक विकल्प न हो, और कल्पना–जाल न बिछे।'[18]

निर्वाण का स्वरूप– नागार्जुन चतुष्कोटिकन्यायप्रणाली को मोक्ष के सन्दर्भ में क्रियान्वित कर मोक्ष की विरोधीसम्मत समस्त धारणाओं में व्याप्त विसङ्गतियों को प्रस्तुत कर उनका खण्डन कर यह स्थापित करते हैं कि निर्माण के संबंध में 'सत', 'असत', उभय का भावात्मक यौगपद्य तथा निषेधात्मक सहवर्तिता आदि चारों विकल्प अनुपपन्न हैं। बुद्धि की कोई भी कोटि निर्वाण के स्वरुपाधिगम में समर्थ नहींय विचार अथवा भाषा का कोई भी संस्करण इसे तत्त्वतः व्यक्त करने में सक्षम नहीं है। संभवतः निर्वाणविषयक भाषा की इसी अशक्यता को सङ्केतित करने के लिए नागार्जुन 'ने 'नेति–नेति' दृष्टि का आश्रयण किया है।'[19] 'अप्रहोणम' अर्थात जो रागादि के समान शमित नहीं होता, 'असंप्राप्तम' अर्थात् जो श्रामण्यफल के समान प्राप्त नहीं होता, 'अनुच्छिन्नम' अर्थात जो स्कन्धादि के समान नष्ट नहीं होता, 'अशाश्वतम' अर्थात् जो सस्वभाव पदार्थों के समान नित्य नहीं होता तथा जो स्वभावतः अनिरुद्ध तथा अनुत्पन्न हो। स्पष्टतः नागार्जुन सम्मत निर्वाण– व्याख्यान में निषेधात्मक स्वर ही मुखर है। यह ध्यातव्य है कि नागार्जुन निर्वाण को संसार का विरोधी न मानकर दोनों की अभिन्नता प्रकट करते हैं।'[20] उपर्युक्त लक्षण में प्रयुक्त पदों यथा– 'असंप्राप्तम', 'अनिरुद्धमनुत्पन्न' की सङ्गति तभी संभव है जब निर्वाण का वस्तुतः कभी अनस्तित्व नहीं हो। जिस निर्वाण को हम क्लेशों के नाश का परिणाम कहते हैं, वस्तुतः उसे क्लेश संबंधी कल्पनाओं का नाश कहना ही समीचीन होगा।'[21] निर्वाण वस्तुतः जगत् एवं समस्त जागतिक प्रपञ्चों में व्याप्त व्याघातों के सर्वव्यापकता की सार्थक समझ है। चूँकि ये समस्त जागतिक कलरव व्यावहारिक जीवन के कार्यनिष्पादन में समर्थ होता है अतः आपाततः स्वतन्त्र एवं स्वभावयुक्त प्रतीत होते हैं परंतु यदि उन्हें साकल्य में देखा जाता है तो उनका स्वरूप स्पष्ट होता है। निर्वाण तथा संसार तथ्यतः अभिन्न हैं, उनमें कोई तात्विक भेद नहीं होता, परंतु हमारी दृष्टि सदोष है। निर्वाण में वस्तुएं यथावत बनी रहती हैं, केवल उनके प्रति हमारी दृष्टि परिवर्तित हो जाती है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. 'सर्व' खलु इदं ब्रह्म। (छान्दोग्योपनिषद् III–14.1) 'सदेव सौमयेदमग्र आसीतदेकमेवाद्वितीयम् (छा.उ. VI – 2.1)
2. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, 2.2.6.31
3. 'अकृत्रिम स्वभावो हि निरपेक्षः परत्र च
4. हेतु–प्रत्ययाक्षेपो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः
5. यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे। सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा।।(मा०का० 24/15)
6. प्रतीत्य यद्यद् भवति नहि तावत्तदेव तत्। न चान्यदपि तत्तस्मान्नोच्छिन्नं नापि शाश्वत (मा०का० 18/10)
7. ''न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।'' (मा०का० 1/3)
8. यथा यंत्रीकृतं तूर्यं वाद्येत पवनेरितम्। न चात्रवादकः कश्चिनिश्चरंत्यथ च स्वराः।। एवं पूर्व सुशुद्धात् सर्वसत्त्वाशयेरिता। वाग्निश्चरति बुद्धस्य, न चस्यास्तीह कल्पना।।'' (मा०का० 18/7 पर प्रसन्नपदा में उद्धृत)
9. शल्य यशदेव, माध्यमकशास्त्र और विग्रहव्यावर्तनी, युक्ति परीक्षा और सिद्धांत विमर्श, भूमिका, पृ० 21.
10. शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता, निःसरण जिनैः। येषां तु शून्यतादृष्टिस्तान् साध्यान् बभासिरे।। (मा०का०, 13/8)
11. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना। लोकसंवृति–सत्यं च सत्यं च परमार्थतः (मा०का० 24/8)
12. समन्ताद् वरणं संवृतिः। अज्ञानं हि समन्तात् सर्वपदार्थ तत्त्वाच्छादनात् संवृतिरित्युच्यते। परस्पर संभवनं वा संवृतिरन्योन्य समाश्रयेण। अथवा संवृतिः सेकेतो लोकव्यवहारः।। वही, 24/11, प्रसन्नपदा
13. व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते। (वही, 24/10)
14. मा०का० 1.1 में प्रतीत्यसमुत्पाद को भाषा और विचार की कोटियों से अतीत रूप में देखा गया है। ये कोटियाँ परस्पर व्यावर्तक सापेक्ष युगलों से निर्मित होती हैं। मा०का० के अनुगामी अध्यायों में नागार्जुन कारणता, गति, काल आदि आधारभूत अवधारणाओं का विश्लेषण करके यह दिखाते हैं कि वे वास्तव में स्वरूपतः द्वन्द्वात्मक हैं और इस प्रकार सिद्ध करते हैं कि ये तर्कतः सापेक्ष और इस प्रकार किसी सद्वस्तु के अनुरूप नहीं है। इस प्रकार यह निहित धारणा विद्यमान है कि सत् को एक ऐसा द्रव्य होना चाहिए, जो अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों दृष्टियों से स्वतंत्र हो। पाद टिप्पणी, पृ. 27, शल्य, यशदेवय माध्यमकशास्त्र और

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-16, No.- II, Issues-28, YEAR- April-June-2023

विग्रहव्यावर्तनी।

15. वही, पाद टिप्पणी, पृ. 27.
16. अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपंचौरप्रपंचितम्। निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम्।। (मा०का० 18/9)
17. "इति कृत्वा कुतस्तत्रपरमार्थे वाचां प्रवृत्तिः, कुतो वा ज्ञानस्य ? स हि परमार्थो अपर प्रत्ययः शान्तः, प्रत्यात्मवेद्य आर्याणां सर्वप्रपंचातीतः। स नोपदेश्यते ? न चापि ज्ञायते। (वही, 18.7, प्रसन्नपदा भाष्य)
18. कृ–– कृ–
19. अप्रहीणमसंप्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम्। अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते (मा०का० 25/3)
20. न संसारस्य निर्वाणात्किंचिदस्ति विशेषण। न निर्वाणस्य संसारात्किञ्चिदस्ति विशेषणम् (वही 15/19)
21. 'निरवशेषकल्पनाक्षयरूपमेव निर्वाणम्' (वही. 25/3, प्रसन्नपदा)

*****